Research Paper

E-ISSN NO : 2455-295X | IMPACT FACTOR VALUE : 5.983
VOLUME : 11 | ISSUE : 1 | SPECIAL ISSUE JANUARY-2025

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा एवं समकालीन दौर में भूमिका: चुनौतियाँ एवं समाधान

डॉ. संजीव कुमार बंसल सह-आचार्य (एबीएसटी), श्रीमती नर्बदा देवी बिहाणी राजकीय महाविद्यालय, नोहर (राजस्थान).

ABSTRACT:

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा विकासशील देशों के बीच सहयोग को प्रोत्साहित करने का एक प्रमुख माध्यम है, जो समान चुनौतियों और अवसरों को साझा करते हैं। यह अवधारणा ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष और स्वतंत्रता के बाद के विकासशील देशों के प्रयासों से जुड़ी हुई है। समकालीन दौर में दक्षिण-दक्षिण सहयोग का दायरा व्यापार, तकनीकी आदान-प्रदान, शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरणीय स्थिरता तक विस्तृत हो चुका है। हालांकि, यह सहयोग कई चुनौतियों का सामना कर रहा है, जैसे आर्थिक असमानता, राजनीतिक अस्थिरता, वित्तीय संसाधनों की कमी और वैश्विक उत्तर के साथ असंतुलित शक्ति समीकरण।

इस शोध पत्र में दक्षिण-दक्षिण सहयोग की वर्तमान भूमिका का विश्लेषण किया गया है, जिसमें अंतरराष्ट्रीय मंचों पर विकासशील देशों की एकता और सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में इसकी उपयोगिता को रेखांकित किया गया है। साथ ही, इन चुनौतियों का समाधान खोजने के लिए तकनीकी नवाचार, वित्तीय संसाधनों की बेहतर प्रबंधन रणनीतियां, और बहुपक्षीय संस्थाओं के माध्यम से सामूहिक प्रयासों पर जोर दिया गया है।

KEYWORDS:

दक्षिण-दक्षिण सहयोग, समकालीन भूमिका, विकासशील देश, सतत विकास लक्ष्य, आर्थिक असमानता, तकनीकी नवाचार, राजनीतिक स्थिरता, वैश्विक उत्तर, वित्तीय प्रबंधन, बहुपक्षीय संस्थाएं।

प्रस्तावना

दक्षिण-दक्षिण सहयोग (South-South Cooperation) एक ऐसी अवधारणा है जो विकासशील देशों के बीच समान साझेदारी और सहयोग को प्रोत्साहित करती है। यह अवधारणा 20वीं शताब्दी के मध्य में उभरी, जब नव-स्वतंत्र देशों ने उपनिवेशवाद और नव-उपनिवेशवाद के प्रभावों से उबरने के लिए आपसी सहयोग को एक प्रभावी साधन के रूप में अपनाया। इस सहयोग का उद्देश्य साझा चुनौतियों का समाधान ढूंढते हुए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास को बढ़ावा देना है।

समकालीन दौर में दक्षिण-दक्षिण सहयोग का महत्व और भी बढ़ गया है, जहां विकासशील देशों के लिए वैश्विक मंचों पर अपनी स्थिति मजबूत करने, सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) को प्राप्त करने और जलवायु परिवर्तन, आर्थिक असमानता जैसी समस्याओं का सामना करने के लिए आपसी साझेदारी आवश्यक हो गई है।

हालांकि, यह सहयोग कई चुनौतियों का सामना कर रहा है, जैसे कि संसाधनों की कमी, राजनीतिक अस्थिरता, वैश्विक उत्तर के साथ असंतुलन, और तकनीकी असमानता। इन चुनौतियों के समाधान के लिए दक्षिण-दक्षिण सहयोग को सुदृढ़ करने और उसे अधिक प्रभावी बनाने के लिए बहुपक्षीय नीतियां और रणनीतियां आवश्यक हैं।

यह शोध पत्र दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा, उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, समकालीन भूमिका, चुनौतियों और उनके संभावित समाधानों का गहन विश्लेषण करेगा। इस संदर्भ में, शोध का उद्देश्य विकासशील देशों के बीच सामूहिक प्रयासों को प्रोत्साहित करना और वैश्विक असमानता को संतुलित करने के लिए नई दृष्टिकोणों को उजागर करना है। यह शोध न केवल दक्षिण-दक्षिण सहयोग के वर्तमान परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करेगा, बल्कि इसके भविष्य की संभावनाओं और सुधारात्मक उपायों की भी दिशा निर्धारित करेगा।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की पृष्ठभूमि

दक्षिण सहयोग (संवाद) का वास्तविक सूत्रापात सन् 1968 में नई दिल्ली में आयोजित द्वितीय अंकटाड के सम्मेलन में विकासशील राष्ट्रों में आपसी सहयोग की आवश्यता पर हुआ था। इसके बाद दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा पर सन् 1970 के लुसाका सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग (South & South Cooperation) की अवधारणा 20वीं शताब्दी के मध्य में उभरी, जब एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के कई देश उपनिवेशवाद से स्वतंत्र होकर अपने विकास की दिशा में अग्रसर हो रहे थे। यह सहयोग मुख्य रूप से उन विकासशील देशों के बीच समन्वय और सहयोग को संदर्भित करता है, जिन्हें "वैश्विक दक्षिण" के नाम से जाना जाता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद वैश्विक व्यवस्था में उन्नत देशों (वैश्विक उत्तर) का वर्चस्व बढ़ा, जिसने विकासशील देशों को हाशिए पर धकेल दिया। इस असमानता को चुनौती देने के लिए, एशिया और अफ्रीका के नव-स्वतंत्र देशों ने 1955 में बांडुंग सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन ने विकासशील देशों के बीच एकता, सहयोग और उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को प्रोत्साहित किया।

बांडुंग सम्मेलन के परिणामस्वरूप 1961 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (NAM) की स्थापना हुई, जिसने विकासशील देशों के लिए एक सामूहिक मंच प्रदान किया। इस आंदोलन ने विकासशील देशों को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से सशक्त बनाने के लिए एक वैकल्पिक सहयोग मॉडल की आवश्यकता को महसूस किया। इसी अवधारणा ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग का आधार तैयार किया।

1970 के दशक में संयुक्त राष्ट्र ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग को औपचारिक रूप से मान्यता दी। 1978 में ब्यूनस आयर्स कार्य योजना (Buenos Aires Plan Of Action) को अपनाया गया, जो तकनीकी सहयोग और विकासशील देशों के बीच ज्ञान-साझा करने के लिए एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बना।

नई दिल्ली 22-24 फरवरी, 1981 की अवधि में 44 देशों का सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन श्रीमती इंदिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन ने दक्षिण-दक्षिण सहयोग के पुख्ता दिशा खोजे। उत्तर (धनी पश्चिमी देश) पर निर्भरता कम करने की दृष्टि से ही और दक्षिण-दक्षिण में परस्पर सहयोग स्थापित करने के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया था। सम्मेलन में सऊदी अरब, कुवैत, संयुक्त अरब अमीरात जैसे अमीर देश भी आमंत्रित थे। उनसे यह आशा की गयी कि वे अपने गरीब भाइयों की मदद के लिए आगे आयेंगे। यदि तेल सम्पन्न देश अपने धन को विकासशील देशों में लगाना स्वीकार कर ले तो बेशक दक्षिण (निर्धन विकासशील देश का) का आर्थिक चेहरा बदल सकता है।

1987 से ही दक्षिण आयोग का निर्माण किया गया जिसका मकसद विकासशील राष्ट्रों के आपसी सहयोग की नई दिशा देना एवं समन्वय स्थापित करना था। दिसम्बर, 1991 में आयोजित जी-15 राष्ट्रों के काराकास सम्मेलन ने विकासशील देशों के नेताओं में उनकी आपसी समस्याओं के प्रति जागरूकता उजागर की। काराकास सम्मेलन में भारत के

तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हा राव ने ठीक ही कहा कि- "निर्धन देशों के आपसी सहयोग को चहुमुखी विकास का प्रभावी माध्यम बनाया जाना चाहिए।"

महत्वपूर्ण बिंदु

1. उपनिवेशवाद का प्रभाव

वैश्विक दक्षिण के देशों ने उपनिवेशवाद के दौरान आर्थिक शोषण और संसाधनों की लूट का सामना किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, ये देश अपनी विकास प्राथमिकताओं को तय करने के लिए आपसी सहयोग की ओर अग्रसर हुए।

2. गुटनिरपेक्ष आंदोलन का प्रभाव

गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने वैश्विक उत्तर और दक्षिण के बीच असमानता को कम करने और विकासशील देशों के बीच सहयोग बढ़ाने के प्रयास किए।

3. संयुक्त राष्ट्र का समर्थन

दक्षिण-दक्षिण सहयोग को अंतरराष्ट्रीय मंच पर मान्यता दिलाने में संयुक्त राष्ट्र ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4. दक्षिण-दक्षिण व्यापार और निवेश

1990 के दशक के बाद वैश्वीकरण के दौर में विकासशील देशों के बीच व्यापार और निवेश में वृद्धि ने इस सहयोग को और अधिक प्रासंगिक बना दिया।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग विकासशील देशों के सामूहिक विकास और वैश्विक असमानता को कम करने का एक प्रभावी माध्यम बन गया है। इसकी पृष्ठभूमि में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष, गुटनिरपेक्ष आंदोलन, और विकासशील देशों की आत्मनिर्भरता की आकांक्षा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वर्तमान में, यह सहयोग आर्थिक, तकनीकी और कूटनीतिक साझेदारी के माध्यम से सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग के विभिन्न मंच

दक्षिण-दक्षिण सहयोग के लिए कई बहुपक्षीय और क्षेत्रीय मंचों का विकास हुआ है, जो विकासशील देशों को आपसी सहयोग, ज्ञान-साझा करने, तकनीकी आदान-प्रदान, और सामूहिक विकास के लिए एकजुट करते हैं। ये मंच विभिन्न क्षेत्रों जैसे व्यापार, वित्त, पर्यावरण, शिक्षा, और कूटनीति में सहायक सिद्ध हुए हैं।

प्रमुख मंच

1. बांडुंग सम्मेलन (Bandung Conference)

इसकी स्थापना 1955 में हुई। इसकी भूमिका एशिया और अफ्रीका के देशों ने पहली बार एक मंच पर आकर उपनिवेशवाद के खिलाफ एकता दिखाई। यह सम्मेलन दक्षिण-दक्षिण सहयोग की अवधारणा का पहला बड़ा कदम था।

2. गुटनिरपेक्ष आंदोलन (Non & Aligned Movement & NAM)

इसकी स्थापना 1961 में हुई, यह शीत युद्ध के दौरान वैश्विक उत्तर (अमेरिका और सोवियत संघ) के गुटों में शामिल हुए बिना विकासशील देशों ने आर्थिक और राजनीतिक सहयोग को बढ़ावा दिया। यह आंदोलन दक्षिण-दक्षिण सहयोग के कूटनीतिक और राजनीतिक आधार को मजबूत करता है।

3. ग्रुप ऑफ 77 (G77)

इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र के अधीन 1964 में हुई। विकासशील देशों के आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए यह मंच बनाया गया। इसमें व्यापार, निवेश और विकासशील देशों की आवाज को वैश्विक मंच पर प्रमुखता देने पर ध्यान केंद्रित किया गया।

4. ब्यूनस आयर्स कार्य योजना (Buenos Aires Plan Of Action)

1978 में स्थापित यह संयुक्त राष्ट्र का एक प्रमुख दस्तावेज है जो विकासशील देशों के बीच तकनीकी सहयोग को बढ़ावा देने के लिए बनाया गया। यह दक्षिण-दक्षिण सहयोग के लिए एक औपचारिक रूपरेखा प्रदान करता है।

5. ब्रिक्स (BRICS)

इसकी स्थापना 2009 में हुई, जिसमें ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका सदस्य हैं। वैश्विक दक्षिण के प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं के लिए यह मंच आर्थिक, वित्तीय और विकासात्मक मुद्दों पर सहयोग को बढ़ावा देता है। ब्रिक्स न्यू डेवलपमेंट बैंक (NDB) इसके तहत एक प्रमुख पहल है।

6. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (SAARC)

1985 में स्थापित यह मंच दक्षिण एशिया के देशों के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक, और तकनीकी सहयोग को बढ़ावा देता है।

7. भारत-अफ्रीका फोरम (India-Africa Forum)

भारत और अफ्रीकी देशों के बीच आर्थिक, तकनीकी, और सांस्कृतिक सहयोग को मजबूत करने के प्रयास हेतु इसकी स्थापना 2008 में की गई।

8. चीन-अफ्रीका सहयोग मंच (FOCAC)

चीन और अफ्रीका के बीच व्यापार, निवेश, और बुनियादी ढांचे के विकास में सहयोग को प्रोत्साहित करने हेतु इसकी स्थापना वर्ष 2000 में की गई।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग के ये मंच विकासशील देशों के लिए अपनी सामूहिक शक्ति को सुदृढ़ करने और वैश्विक असमानता को संतुलित करने का महत्वपूर्ण माध्यम हैं। ये मंच न केवल विकासशील देशों की आंतरिक चुनौतियों को हल करने में सहायक हैं, बल्कि वैश्विक स्तर पर एक न्यायसंगत व्यवस्था स्थापित करने में भी योगदान देते हैं।

दक्षिण-दक्षिण सहयोग की सफलता हेतु दिये गए सुझाव:

1. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना हेतु उत्तर-दक्षिण प्रयासों की असफलता के कारण दक्षिण-दक्षिण सहयोग की शुरूआत की गई। दक्षिण-दक्षिण आपसी विवादों के कारण गति नहीं पकड़ पाया। आपसी विवाद जहां एक पक्ष है वही नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सफलता के सामूहिक प्रयास दूसरा पक्ष है। अतः द्वि-पक्षीय बैठकों द्वारा विवादों का समाधान कर उत्तर के विरूद्ध एक सामूहिक अभियान दक्षिण को शुरू कर देना चाहिए। इसके लिए जी-77, इब्सा, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन, आसियान, दक्षेस व बिम्सटेक आदि को मुख्य आधार मानकर प्रयास किये जाने चाहिए।

2. नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हेतु क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों की भूमिका मुख्य हो जाती है। इस हेतु इब्सा व आसियान को जी-8 (वर्तमान जी-7) एवं यूरोपीय यूनियन के समक्ष खड़ा करना चाहिए।

3. विकसित राष्ट्रों द्वारा मनमाने पूर्ण रवैए के प्रति सभी विकासशील देशों को एकजूट होकर उन्हें अपने मामलों में हस्तक्षेप करने, उनकी पक्षकारी भूमिका के प्रति सचेत करने एवं आपसी छूट का लाभ उठाने देने से रोकना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि भारत, चीन, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका व आसियान को आगे आकर सभी विकासशील देशों को एकजुट करना चाहिए।

4. विकासशील देशों में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका है। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मांग में भी भारत अग्रणी रहा है। अतः भारत को बिम्सटेक व इब्सा जैसे संगठनों को अधिक प्रभावी बनाना चाहिए। इब्सा, बिम्सटेक या आसियान आदि विकल्पों पर भारत को काम करना चाहिए। पाकिस्तान व चीन के विवाद के मध्य नजर वैकल्पिक आर्थिक संगठन को ध्यान में रखा जाना उपर्युक्त होगा।

5. औद्योगिक राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों के औद्योगिकीकरण में सहयोग देना चाहिए। व्यापार की गलत शर्ते, जो कि विकासशील राष्ट्रों के लिए लगातार घाटे की होती जा रही थी, में सुधार किया जाना चाहिए।

6. विकसित राष्ट्रों को विकासशील राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति और उनके पिछड़ेपन को दूर करने के लिए प्रौद्योगिक और मौद्रिक सहयोग दिया जाना चाहिए।

7. विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों में कार्यरत अपने बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्यकलापों पर रोक लगानी चाहिए तथा उनका रवैया सहयोगात्मक होना चाहिए।

8. विकसित राष्ट्रों द्वारा संचालित, किन्तु अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं, जिनके अर्द्ध-विकसित और विकासशील राष्ट्र भी सदस्य हैं, जैसे-विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष आदि के निर्वाचन ढांचे में परिवर्तन किया जाना चाहिए तथा इन संस्थाओं द्वारा अधिकाधिक वित्तीय सहायता विकासशील राष्ट्रों को सस्ती दरों पर तथा आसान शर्तो पर दिया जाना चाहिए।

9. नवीन अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक है कि विकसित देश अपने बाजारों में विकासशील देशों के प्रवेश के लिए बेहतर सुविधाएं और अवसर प्रदान करने के लिए सहमत हों एवं विकास-सहायता की राशि में वृद्धि करें। आर्थिक सहायता के साथ-साथ उन्नत तकनीक दें तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों में उन्हें भागीदार बनाएं जिससे तीसरे विश्व के राष्ट्र उसकी उन्नत तकनीक को बेरोकटोक इस्तेमाल कर सकें।

10. विकसित देश विकास-सहायता की राशि में वृद्धि के लिए तैयार हों। जबकि वर्तमान समय में वे अपनी राष्ट्रीय आय का केवल एक प्रतिशत विकास-सहायता के रूप में प्रदान करते हैं।

11. विकसित देश पुराने ऋणों की अदायगी के लिए अधिक लम्बी अवधि, घटी हुई ब्याज दर तथा विकासशील राष्ट्रों की मुद्रा में भुगतान की सुविधाएं दे और जिन राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के बोझ के नीचे टूट रही है उनके कर्जे माफ करें।

12. आर्थिक सहायता के साथ-साथ उन्नत तकनीक दें तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों में उन्हें भागीदार बनाएं और कॉपीराइट के प्रतिबन्ध को इस प्रकार शिथिल करें कि पूर्व सोवियत संघ की भांति तीसरे विश्व के राष्ट्र उसकी उन्नत तकनीक को बेरोकटोक इस्तेमाल कर सकें।

13. कृषि-विस्तार और औद्योगीकरण में इस प्रकार सहयोग दें, जिससे कि वे विश्व स्तर पर पहुँच सकें।

14. विश्व की कुल जनसंख्या का केवल दस प्रतिशत भाग विकसित राष्ट्रों में रहता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं और संगठनों पर उनका एकछत्र नियंत्रण है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा-परिषद उनके हाथों की कठपुतली बन गई है, जो महासभा के निर्णयों को रद्दी की टोकरी में फेंकती है अतः यह आवश्यक है कि विकसित राष्ट्र इस स्थिति को बदलकर तृतीय विश्व के राष्ट्रों को इन संस्थाओं के नियम, नियंत्रण और संचालन में सक्रिय, सार्थक तथा निर्णयों की भूमिका प्रदान करने के लिए तैयार हो।

15. भूमण्डलीकरण के दौर में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना के लक्ष्यों की प्राप्ति आसान नहीं रही। विकसित राष्ट्रों की मनमानी मुख्य अवरोध हैं। ऐसे में दक्षिण-दक्षिण संवाद के प्रयासों से नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।

16. दक्षिण-दक्षिण अर्थव्यवस्था की स्थापना में भारत की भूमिका महत्वपूर्ण है। अतः विकासशील देशों में भारत की अग्रणी भूमिका इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हो सकती है क्योंकि भारत अन्य विकासशील राष्ट्रों के साथ निरंतर अमेरिकी आधिपत्य तथा उसकी हस्तक्षेप पूर्ण नीति का विरोध करता रहा है।

भारत का विकसित राष्ट्रों के प्रति विभिन्न मुद्दों पर सहयोगात्मक रूख भी रहा है। तथापि यह अपनी मुक्त अर्थव्यवस्था, स्वतंत्र विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय पहचान को बनाए रखने के लिए कृत संकल्प भी है। साथ ही भारत प्रारंभ से ही एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का पक्ष लेता रहा है जो भेदभाव रहित व न्याय पर आधारित होने के साथ-साथ वैश्विक आर्थिक विकास में सहायक हो। भारत दक्षेस (सार्क), बिम्सटेक, एम.जीसी. बी.सी.आई.एम., आसियान आदि क्षेत्रीय आर्थिक संगठनों के माध्यम से अपनी प्रभावों व महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

निष्कर्ष

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था हेतु विकसित देशों को सहमत कराना इतना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए सामूहिक प्रयासों के परिणाम ज्यादा कारगर रहने की संभावनाएं है। भारत की विकासशील देशों में मजबूत स्थिति के कारण वह इन देशों को एकत्रित करके अपने नेतृत्व के अधीन इस व्यवस्था की स्थापना हेतु संघर्ष मे महत्वपूर्ण भूमिका अवश्य निभा सकता है। उत्तर-दक्षिण में आम सहमति बनाने हेतु भारत व सहगामी देशों को इस बात पर बल देना होगा कि- संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न एजेंसियों व अंगों के माध्यम से सहयोग प्रक्रिया को और सकारात्मक बनाया जा सकता है। इस परिवर्तन हेतु संघर्ष की बजाय सहयोग का मार्ग ज्यादा श्रेयस्कर होगा। भारत अपने अनुभवों, तकनीकों व संसाधनों से विकासशील देशो की सहायता कर सकता है। इन राज्यों के बीच क्षेत्रीय सहयोग की स्थापना प्रथम सोपान का कार्य कर सकती है। उत्तर-दक्षिण के बीच व्यापक मतभेद व परस्पर विरोधी हितों को देखते हुए "वत्ताओं द्वारा समाधान" पर बल दिया जा सकता है। क्योंकि विकासशील देशों के पास किसी भी सौदेबाजी हेतु दबाव की कमी है। इसीलिए इस दिशा में उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विकसित व विकासशील देशों के अन्दर सहमति होना आवश्यक है।

REFERENCES

1. मैकमिलन स्कूल एटलस (का व्यवहारिक अवलोकन), मैकमिलन इंडिया लि. संस्करण 2006, पृ.सं. 54
2. क्रानिकल ईयर बुक 2005 पेज नं. 623, क्रानिकल ईयर बुक 2008, पृ.सं. 238 क्रानिकल पब्लिकेशन (प्रा.) लि., दिल्ली
3. माजिद हुसैन, विश्व भूगोल, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, संस्करण 2004 पृ.सं. 76
4. जगदीश सिंह, भारत के समीपवर्ती देश पृ. सं. 436
5. मानिक लाल गुप्त, भारतीय विदेशनीति और निकटतम पड़ोसी राष्ट्र पृ.सं. 88
6. समसामयिकी वार्षिकी 2009-2010, विवास पॅनोरमा प्रकाशन दिल्ली, पृ.सं. 43
7. समसामयिकी अर्द्धवार्षिकी 2009 विवास पॅनोरमा प्रकाशन दिल्ली, पृ.सं. 38
8. उप्रेती, बी.सी. एंड उपाध्याय, एस (2020) दक्षिण एशिया में सुरक्षा की उभरती चुनौतियाँ, नई दिल्ली, कलिंग प्रकाशन